संक्रमणों का इतिहास और प्रतिरोध की हकीकत

अश्विन साई नारायण शेषशायी

चिकित्सा तथा जैव-चिकित्सा विज्ञान में आजकल एक प्रमुख चुनौती एंटीबायोटिक प्रतिरोध की है। यह वह परिघटना है जिसके तहत संक्रामक रोगों के कारक - जैसे बैक्टीरिया - अब 'चमत्कारिक औषधियों' का प्रत्युत्तर नहीं देते। आइए हम मानव इतिहास में संक्रामक रोगों की भूमिका के रास्ते इस परिघटना को समझने की कोशिश करते हैं। इसमें हम यह भी देखेंगे कि पिछली सहस्राब्दियों में इन्हें समझने और इनका उपचार करने के हमारे नज़रिए क्या रहे हैं। हम हाल के वर्षों में एंटीबायोटिक दवाइयों के उपयोग व दुरुपयोग पर नज़र डालेंगे और यह देखेंगे कि इसके परिणामस्वरूप एंटीबायोटिक प्रतिरोध कैसे पैदा हुआ है। हम यह देखेंगे कि पर्यावरण में कुदरती एंटीबायोटिक्स प्राचीन समय से मौजूद रहे हैं और प्रतिरोध की समस्या अपरिहार्य थी। इसके साथ ही आगे की संभावनाओं पर भी विचार करेंगे।

इतिहास में संक्रामक रोग

संक्रामक रोग हज़ारों सालों से मानव जाति पर अंकुश का काम करते आए हैं। खेती के विकास के साथ मानव जनसंख्या घनत्व में विस्फोटक वृद्धि और आगे चलकर नगर-राज्यों के संगठन ने परस्पर संपर्क को बढ़ावा दिया होगा। यहां तक भी कहा जा सकता है कि रोग पैदा करके ऐसी घनी आबादियों में संख्या वृद्धि करने और फैलने की क्षमता ने कुछ बैक्टीरिया में घातकपन के विकास में योगदान दिया होगा। वास्तविक तस्वीर शायद ज़्यादा पेचीदा होगी मगर यह सरल वर्णन भी बहुत गलत नहीं है।

इस बात के प्रमाण हैं कि वर्ष शून्य से एक सहस्राब्दि पहले मिस्री फरोआ रामेसेस पंचम को शायद चेचक हुआ था। चेचक वह घातक वायरसजन्य रोग है जिसका अब सफाया कर दिया गया है। आयुर्वेद ग्रंथ चरक संहिता और उसके समकालीन हिपोक्रेटस की चिकित्सा संहिताओं

में टीबी को क्रमश: शोशा रोग/राज्यक्षमा और थायसिस कहा गया है। ये ग्रंथ 500 ईसा पूर्व से पहली ईस्वीं सदी के बीच के हैं। टीबी एक बैक्टीरियाजनित रोग है जो आजकल काफी महत्वपूर्ण हो गया है। उपरोक्त संहिताओं में कुष्ठ का उल्लेख भी है। यह भी एक बैक्टीरिया जनित रोग है। संभव है कि टीबी और कुष्ठ के बैक्टीरिया का एक साझा पूर्वज रहा होगा। उक्त दोनों ही ग्रंथों में रुक-रुककर आने वाले बुखार का भी ज़िक्र है जो विभिन्न किस्म के मलेरिया का लक्षण है। मलेरिया न तो बैक्टीरिया की वजह से होता है न ही वायरस की वजह से। यह तो एक प्रोटोज़ोआ जीव की करतूत है।

अपने विस्तार व आबादी की अभूतपूर्व स्थिति वाले रोमन साम्राज्य को कई बार प्लेग का सामना करना पड़ा था। प्लेग एक और बैक्टीरियाजनित रोग है। 1990 के दशक में सूरत में हुए प्रकोप के बाद भारत में इसकी काफी चर्चा हुई थी। प्लेग ने 14वीं सदी में युरोप को तहस-नहस कर दिया था। चीन से शुरु होकर युरोप तक पहुंचने के अपने मार्ग में यह विनाश के चिंह छोड़ता गया था। इसे 'ब्लैक डेथ' यानी 'काली मृत्यु' की संज्ञा दी गई थी। एक मत यह है कि इस प्लेग ने उन सामाजिक परिवर्तनों को लाने में भूमिका अदा की थी जिनकी परिणति अंतत: पुनर्जागरण या रिनेसां में हुई थी। यह भी माना जाता है कि लोकप्रिय बाल गीत 'रिंग-ए-रिंग रोज़ेस' वास्तव में प्लेग से पीड़ित बच्चों के रोग के लक्षणों से प्रेरित होकर लिखा गया था... "एंड वी ऑल फॉल डाउन डेड।" अपेक्षाकृत हाल की सदियों में बैक्टीरिया जनित निमोनिया और हैजा की भयानक महामारियां और विश्वव्यापी महामारियां हुई हैं। यहां हम विभिन्न सांस सम्बंधी वायरसों और बहु-औषधि प्रतिरोधी बैक्टीरिया की बात करेंगे। हालांकि उपरोक्त सूची चुनिंदा ऐतिहासिक महामारियों को ही दर्शाती है मगर इससे मनुष्य और संक्रामक रोगों के सह-अस्तित्व के लंबे इतिहास की झलक तो मिल ही गई होगी। इससे यह भी पता चलता है कि एक समूह का जैविक संघटन दूसरे के लिए किस तरह की चुनौतियां प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक समझ

हालांकि मानव जाति प्राचीन समय से ही संक्रामक रोगों से पीड़ित रही है, मगर इनकी पैथॉलॉजी की समझ हाल ही में विकसित हुई है। हिपोक्रेटस और उसी काल के आयुर्वेदिक चिकित्सक वे पहले लोग थे जिन्होंने बीमारी के कारणों को पारलौकिक शक्तियों से अलग करके देखना शु डिग्री किया था। अलबत्ता, बीमारियों को कतिपय द्रवों के संतुलन, जिस पर मौसम और भोजन जैसे बाहरी कारकों का असर हो सकता है, में गड़बड़ी के लक्षणों के रूप में देखने के उनके सिद्धांत हमारे आज के ज्ञान की तुलना में अत्यंत सरलीकृत थे। मगर रोग-उत्पत्ति के उनके सिद्धांतों की वैधता की चिंता न करें, तो उन चिकित्सकों ने उनके पास उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर संक्रामक रोगों पर नियंत्रण के कारगर प्रयास किए होंगे। बहरहाल, उन्होंने बीमारी के कीटाणु सिद्धांत का अंदेशा नहीं किया था। वह तो उनके समय के 2000 साल बाद फलने-फूलने लगा।

यह विचार कि कीटाणु बीमारियां पैदा करते हैं, युरोप में एक इतालवी व्यक्ति गिरोलेमो फ्राकेस्टारो ने प्रचलित किया था। उन्होंने मध्य सोलहवीं सदी में यह सुझाया था कि हवा के माध्यम से फैलते कुछ कणों के संपर्क से बीमारियां होती हैं। इसकी अगली सदी में कुछ जीवों के स्वत: जनन के सिद्धांत को फ्रांसेस्को रेडी ने खारिज कर दिया था। यह सिद्धांत कहता था कि कुछ जीव अपने आप निर्जीव पदार्थों में से प्रकट हो जाते हैं। इसके बाद सूक्ष्मजीव विज्ञान के जनक एन्तोन फान ल्यूवेनहूक ने सूक्ष्मदर्शी की मदद से सूक्ष्मजीवों को देखा और उनका वर्णन 'एनिमलक्यूल्स' के रूप में किया था।

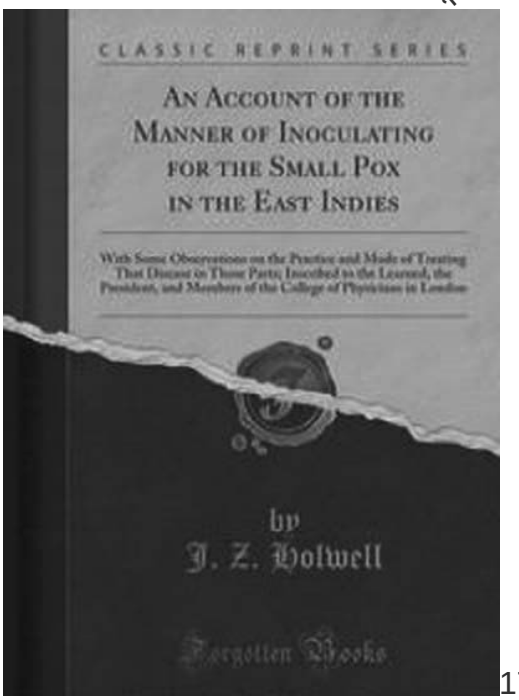

1767 में होलवेल ने एक पुस्तक/निबंध (जिसका लंबा-सा शीर्षक था "एन अकाउंट ऑफ दी मैनर ऑफ इनॉक्यूलेटिंग फॉर स्माल पॉक्स इन दी ईस्ट इंडीज़ विद सम ऑब्सर्वेशन्स ऑन दी प्रैक्टिस एंड मोड ऑफ ट्रीटिंग दैट डीसीज़ इन दोस पार्ट्स") में बताया था कि कैसे बंगाल के कुछ ब्राह्मण स्थानीय बाशिंदों को ऐसे लोगों के मवाद से बने एक मिश्रण से 'इनॉक्यूलेट' करते हैं जिन्हें एक वर्ष पहले चेचक हुआ था। यह इनॉक्यूलेशन, जो वर्तमान टीकाकरण का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है, मौसमी चेचक महामारी की शुरुआत से पहले किया जाता था और संभव है कि भारत में यह 1000 ईस्वीं में प्रचलित था।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन चिकित्सकों के दिमाग में बीमारियों का कीटाणु सिद्धांत था और उनका तर्क था कि छूत के रोग "वातावरण में तैरते अनगिनत एनिमलक्यूलेट से पैदा होते हैं... (जो) एक खास मौसम में कम या ज़्यादा संख्या में लौटते हैं (और) सांस की क्रिया के दौरान सारे जंतुओं के शरीर के अंदर-बाहर आते-जाते रहते हैं।"

मध्य-उन्नीसवीं सदी में इग्नेज़ सेमेलवाइस और जॉन स्नो के कार्यों से क्रमश: प्यूरपेरल ज्वर और हैज़ा महामारी के भौतिक स्रोत पहचाने गए। इन निष्कर्षों के फलस्वरूप बीमारी की

रोकथाम के लिए अस्पताल कर्मियों के हाथों को क्लोरीन से संक्रमण मुक्त करने और संक्रमण के स्रोत के रूप में पहचाने गए कुओं को बंद करने जैसे सरल उपाय सामने आए। इससे पहले ऑगस्टिनो बास्सी ने संक्रमण के एक स्रोत के रूप में एक 'वनस्पति परजीवी' की पहचान की थी जो रेशम उद्योग को तबाह कर रहा था।

इन शुरुआती अध्ययनों के बावजूद, 'कीटाणु' और बीमारी के बीच की कड़ी की औपचारिक खोजबीन उन्नीसवीं सदी के अंत में लुई पाश्चर और रॉबर्ट कोच की बदौलत शु डिग्री हुई थी। किसी कीटाणु और किसी बीमारी के बीच कड़ी स्थापित करने के सम्बंध में कोच के नियम आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। लगभग 30 वर्ष पहले स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय के स्टेनले फाल्कोव ने इन्हें 'कोच के आणविक नियमों' के रूप में विस्तार दिया है। पौल डी क्रुइफ द्वारा 1926 में लिखित पुस्तक दी माइक्रोब हंटर्स संक्रामक रोगों की खोजों में रुचि रखने वाले हर व्यक्ति को अवश्य पढ़नी चाहिए।

<u>एंटीबायोटिक से पहले</u>

कीटाणु सिद्धांत से पहले संक्रामक रोगों का उपचार मूलत: जड़ी-बूटियों पर आश्रित था। प्राचीन आयुर्वेद तथा हिपोक्रेटस के समय में विचार यह था कि ये बीमारियां कतिपय 'तरलों' (ह्यूमर्स) में विकार के कारण पैदा होती हैं। इसका मतलब यह था कि आप ऐसे हस्तक्षेप विकसित करेंगे जो इन विकारों को ठीक कर दें।

अब्बासिद खिलाफत (8वीं से 13वीं सदी) की राजधानी बगदाद, जो उस समय बौद्धिक गतिविधियों का केंद्र था, में संक्रामक रोगों पर अंकुश लगाने के लिए संग-रोध (अलग-थलग करने) के तरीके अपनाए जाते थे। इब्न सिना ने बगदाद में सैकड़ों औषधीय नुस्खों का विवरण दिया है। उनकी पुस्तक के लैटिन अनुवाद का उपयोग युरोप की चिकित्सा पाठ्य पुस्तकों में अगले 500 वर्षों तक होता रहा था। नवीं सदी के एंग्लो-सैक्सन ग्रंथ लीचबुक ऑफ बाल्ड में कुछ संक्रामक रोगों के उपचार के लिए नुस्खे बताए गए हैं। हम इस पर थोड़ी देर में लौटेंगे।

मलेरिया-रोधी औषधि आर्टीमिसिनीन, के लिए 2015 का नोबेल पुरस्कार दिया गया था। यह उस अर्थ में कोई एंटीबायोटिक नहीं है, जिस अर्थ में हम आजकल एंटीबायोटिक (बैक्टीरिया नाशक) को समझते हैं। बहरहाल, जिस वनस्पति से आर्टीमिसिनीन प्राप्त की गई है उसका उपयोग चीनी चिकित्सा प्रणाली में संभवत: 300-200 ईसा पूर्व से किया जा रहा है।

इनमें से कई उपचार तथा अन्य सभ्यताओं व संस्कृतियों द्वारा इस्तेमाल किए गए उपचार अनुभव से उभरे थे और कारगर रहे होंगे, चाहे उनमें संक्रामक रोगों के कारणों को लेकर अनभिज्ञता थी।

एक दिलचस्प बात यह है कि सूडान के नुबियावासियों और रोमन मिस्र वासियों के कंकालों के अवशेषों (400 ईस्वीं) पर आजकल के एक एंटीबायोटिक टेट्रासायक्लीन के अंश मिले हैं। यह अंदाज़ लगाना मुश्किल है कि क्या यह टेट्रासायक्लीन उनकी किसी वनस्पति औषधि का

घटक था या उनके भोजन का हिस्सा था। देखा जाए, तो हम जिन एंटीबायोटिक्स का उपयोग करते हैं, उनमें से कई प्राकृतिक उत्पाद हैं। हम आगे देखेंगे कि यही बात एंटीबायोटिक प्रतिरोध को अपरिहार्य बना देती है।

संक्रामक रोगों के खिलाफ टीकाकरण का एक लंबा इतिहास है और लगता है कि भारत में 1000 साल पूर्व इसके उपर्लिखित उपयोग का सम्बंध बीमारी के कीटाणु सिद्धांत को स्वीकार करने से था। टीकाकरण चीन में भी 14वीं सदी में और अरब विश्व में 12वीं सदी में होता था। इस प्रथा को युरोप में एडवर्ड जेनर ने 18वीं सदी के अंत में औपचारिक रूप दिया था। अलबत्ता, आज भी बैक्टीरिया संक्रमण के खिलाफ टीकाकरण कभी-कभार ही सफल रहता है - हमारे बच्चों के लिए टीकाकरण की सूची पर नज़र डालने से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश टीके बैक्टीरिया नहीं बल्कि वायरस जनित रोगों के लिए हैं। यहां यह स्पष्ट कर दें कि एंटीबायोटिक्स, जिन्होंने आगे चलकर चिकित्सा विज्ञान में क्रांति ला दी थी, के विपरीत टीके संक्रमण का इलाज नहीं करते। वे तो प्रतिरक्षा तंत्र को तैयार करते हैं ताकि संक्रमण से सुरक्षा मिले।

<u>एंटीबायोटिक का युग</u>

मुर्गियों और पशुपालन में एंटीबायोटिक का उपयोग एक बड़े परिवर्तन का द्योतक है - इसके साथ ही एंटीबायोटिक का उपयोग बैक्टीरिया संक्रमण के इलाज की बजाय संक्रमण की रोकथाम के लिए होने लगा। इसकी वजह से इन दवाइयों के उपयोग में बेतहाशा वृद्धि हुई है। संक्रामक रोगों के उपचार में दवाइयों के उपयोग की सबसे सफल गाथा एंटीबायोटिक क्रांति की है। इसकी शुरुआत पौल एहर्लिश द्वारा 1910 में 'जादुई गोली' के नाम से मशहूर सालवार्सन नामक औषधि के उपयोग के साथ शुरु हुई थी। यह एक आर्सेनिक-आधारित दवा है जिसका उपयोग सिफलिस के उपचार में किया गया था। इसके कुछ ही समय बाद बायर ने पहली सल्फोनामाइड दवा प्रस्तुत की। निर्णायक मोड़ तो एलेक्ज़ेडर फ्लेमिंग द्वारा पेनिसिलीन की खोज तथा हॉवर्ड फ्लोरी द्वारा इसके उत्पादन के साथ आया था। इसने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान तथा उसके बाद संक्रमणों के इलाज में बड़ी भूमिका निभाई। पेनिसिलीन एक प्राकृतिक रसायन है जिसका उत्पादन एक किस्म की फफूंद (जिसे मोल्ड कहते हैं) करती है। गौरतलब है कि प्राचीन लोगों में कुछ संक्रमणों के इलाज के लिए खास किस्म की मोल्ड खाने की प्रथा प्रचलित थी।

पेनिसिलीन एक एंटीबायोटिक है जो बैक्टीरिया को उसकी कोशिका भित्ती बनाने से रोकता है। बैक्टीरिया एक कोशिकीय होते हैं और उनमें जो कुछ होता है और जो कुछ भी उन्हें एक जीव बनाता है, वह सब एक नाज़ुक डिटर्जेंट नुमा झिल्ली में बंद रहता है और इस झिल्ली के आसपास एक कठोर कोशिका भित्ती होती है। कोशिका भित्ती शर्कराओं और अमीनो अम्लों की आपस में सख्ती से जुड़ी श्रृंखलाओं से बनी होती है। यदि यह सुरक्षात्मक कोशिका भित्ती बनाना असंभव हो जाए, तो नाज़ुक झिल्ली पर्यावरण के संपर्क में आ जाती है और तेज़ी से

ध्वस्त हो जाती है। इसके साथ ही बैक्टीरिया का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। हमारी कोशिकाओं में कोशिका भित्ती नहीं होती और हमारे लिए सिर्फ झिल्ली से ही काम चल जाता है। इसका मतलब हुआ कि पेनिसिलीन हमारी कोशिकाओं का ज़्यादा नुकसान नहीं कर सकती। लिहाज़ा यह एक निरापद दवा है जो सिर्फ बैक्टीरिया को मारती है और हमें अछूता छोड़ देती है। हां, यह अवश्य है कि पेनिसिलीन की अति-खुराक लीवर को क्षति पहुंचाती है वगैरह मगर वह एक अलग ही कहानी है।

कोशिका भित्ती के अलावा बैक्टीरिया की और भी दुखती रगें हैं। ये वे जैव-रासायनिक कार्य हैं जो उनके जीवन के लिए ज़रूरी हैं मगर कुछ इस तरह विकसित हुए हैं कि इनको सम्पन्न करने वाले अणु मनुष्य में इन्हीं कार्यों के लिए ज़िम्मेदार अणुओं से बहुत अलग होते हैं। इसका मतलब है कि ऐसी औषधियां तैयार की जा सकती हैं जो विशेष रूप से बैक्टीरिया के इन गुणों पर प्रहार करे जबकि मनुष्य के जैव-रसायनों को अछूता छोड़ दे। उदाहरण के लिए टेट्रासायक्लीन, अमीनोग्लायकोसाइड और मैक्रोलाइड्स जैसे एंटीबायोटिक बैक्टीरिया की प्रोटीन बनाने वाली मशीनरी में बाधा पहुंचाते हैं, मगर मानव कोशिका की प्रोटीन मशीनरी को नहीं। कई ऐसे एंटीबायोटिक बनाए गए हैं जिन्होंने दुनिया भर में संक्रमणों को नियंत्रित किया और मनुष्य की औसत आयु में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सब कुछ बहुत खुशगंवार लग रहा था। गैर-ज़िम्मेदाराना उत्साह से भरपूर, हमने स्वयं और अपने पर्यावरण को एंटीबायोटिक से पाट दिया: हर छोटी-मोटी तकलीफ के लिए एंटीबायोटिक लेने लगे। आखिर आकर्षक सुनहरे पैकिंग में जेनेरिक एमॉक्सिसिलीन डॉक्टर की पर्ची के बगैर हमारा केमिस्ट उदारता से दे देता है और कीमत भी ज़्यादा नहीं होती। ये कई अन्य तरीकों से भी पर्यावरण में पहुंचे: पशुओं और मुर्गियों को वृद्धि प्रोत्साहक के रूप में और संक्रमणों की रोकथाम के लिए दिए जाने पर, औद्योगिक कचरे के रूप में नदियों और जलमार्गों में बहाए जाकर, और प्रयोगशालाओं में जेनेटिक इंजीनियरिंग के प्रयोगों के दौरान। खास तौर से पशुओं और मुर्गियों को एंटीबायोटिक खिलाया जाना एक प्रमुख बदलाव था जब एंटीबायोटिक का उपयोग संक्रमणों के उपचार की बजाय उनकी रोकथाम के लिए होने लगा। इसकी वजह से इन दवाइयों के उपयोग में बेतहाशा वृद्धि हुई है।

भरपूर आत्मविश्वास और तथाकथित दूरदृष्टि के साथ हमने मान लिया कि संक्रामक रोग अब अतीत की बात हो चुके हैं और इन विषयों में अनुसंधान के लिए फंडिंग में कटौती कर दी गई। बदकिस्मती से, हमने जैव विकास को ध्यान में नहीं रखा था। अगली बार इसी की बात करेंगे। **(स्रोत फीचर्स)**

प्रतिरोध अपरिहार्य मगर अलंघ्य नहीं

अश्विन साई नारायण शेषशायी

प्रतिरोध की समस्या हमारे साथ रहेगी मगर ज़रूरी नहीं कि यह प्रलयंकारी हो। मानवजाति के सामने चुनौती यह है कि इसके साथ कदम मिलाकर चले और नए-नए गुणों वाले नए-नए एंटीबायोटिक का प्रवाह बनाए रखे।
व्यापारिक रूप से उपलब्ध होने से पहले ही पेनिसिलीन के खिलाफ प्रतिरोध के विवरण दिए जा चुके थे। सारे जीव कम या ज़्यादा रफ्तार से विकास करते हैं। बैक्टीरिया की आबादी बहुत विशाल है और उनकी प्रजनन की गति भी बहुत तेज़ है। परिणाम यह होता है कि मात्र संयोग से उनमें बड़ी संख्या में बेतरतीब जेनेटिक विविधता पैदा होती है। इन विविध रूपों में से कुछ में एंटीबायोटिक्स के खिलाफ प्रतिरोध हो सकता है। यह भी ज़रूरी नहीं है कि खुद किसी बैक्टीरिया में उत्परिवर्तन हो तभी उसके गुणसूत्र प्रतिरोधी बनेंगे। हालांकि प्रतिरोधी मायकोबैक्टीरियम ट्यूबरकुलोसिस इसी तरह विकसित हुआ है किंतु बैक्टीरिया एंटीबायोटिक प्रतिरोध के कारक आपस में साझा भी कर सकते हैं - इसे क्षैतिज जीन हस्तांतरण कहते हैं। प्रतिरोध आम तौर पर प्रोटीन्स द्वारा प्रदान किया जाता है - कुछ प्रोटीन्स एंटीबायोटिक को परिवर्तित करके उन्हें गैर-विषैले पदार्थों में तबदील कर देते हैं या कुछ प्रोटीन्स होते हैं जो एंटीबायोटिक्स को बैक्टीरिया की कोशिका के बाहर फेंक देते हैं; या ऐसे फेरबदल करते हैं जो कोशिका के अंदर एंटीबायोटिक को उसके लक्ष्य तक पहुंचने में अवरोध पैदा करते हैं, या एंटीबायोटिक जिस स्थान को निशाना बनाता है उसमें परिवर्तन कर देते हैं जिसके चलते उस पर एंटीबायोटिक का कोई असर ही नहीं होता।

यदि कोई पर्यावरण एंटीबायोटिक से लबालब हो, तो बैक्टीरिया के जो रूप उस दवा के हमले को झेल सकते हैं वे अन्य रूपों से प्रतिस्पर्धा में जीत जाते हैं और धीरे-धीरे आबादी में उनका ही बोलबाला हो जाता है। अंतत: होता यह है कि बड़ी संख्या में बैक्टीरिया हमारे शस्त्रों से भेदे नहीं जा सकते। जैसे तेज़ी से संख्या वृद्धि करने वाले राक्षस हों और कोई बेबस देवता उन पर निष्प्रभावी शस्त्रों से आक्रमण कर रहा हो।
यह समझना बहुत मुश्किल नहीं है कि एंटीबायोटिक के अति-उपयोग के चलते एंटीबायोटिक-प्रतिरोधी बैक्टीरिया का चयन कमोबेश निरंतर ढंग से होता रहेगा: ऐसी परिस्थिति में बैक्टीरिया को एंटीबायोटिक-मुक्त पर्यावरण यदा-कदा ही मिलेगा और इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे बैक्टीरिया बहुत कम संख्या में बच पाएंगे जो उस एंटीबायोटिक से भेद्य हों। और दवाइयों के खिलाफ प्रतिरोध सिर्फ बैक्टीरिया तक सीमित नहीं है। एच.आई.वी. के ऐसे रूप मौजूद हैं जो उपचार में काम आने वाले प्रोटिएज़ अवरोधक के प्रतिरोधी हैं। क्लोरोक्वीन प्रतिरोधी मलेरिया परजीवी को तो हम सब जानते हैं। और तो और, कैंसर कोशिकाएं भी

कीमोथेरपी के प्रति ज़िद्दी हो जाती हैं।

समस्या इसलिए और भी पेचीदा हो जाती है क्योंकि अधिकांश एंटीबायोटिक्स 'विस्तृत परास' वाले हैं। विस्तृत परास इस मायने में कि वे विशिष्ट किस्म के कुछेक बैक्टीरिया को नहीं बल्कि तमाम किस्म के बैक्टीरिया को मारते हैं। विस्तृत परास के एंटीबायोटिक विकसित करने के कुछ उपयोगी कारण भी हैं: डॉक्टर के लिए हमेशा व्यावहारिक तौर पर संभव नहीं होता कि वह स्पष्ट रूप से उस बैक्टीरिया की शिनाख्त करे जिसके कारण संक्रमण हुआ है। ऐसी स्थिति में एक सामान्य एंटीबायोटिक ज़्यादा काम का होता है। विस्तृत परास वाले एंटीबायोटिक के पीछे कुछ व्यावसायिक कारण भी हैं। दूसरी ओर, विस्तृत परास वाले एंटीबायोटिक की उपस्थिति का मतलब यह होता है कि सिर्फ लक्षित बैक्टीरिया में ही प्रतिरोध पैदा नहीं होगा बल्कि कई सारे हानिरहित बैक्टीरिया भी प्रतिरोधी बन जाएंगे। फिर अंततः क्षैतिज जीन हस्तांतरण के ज़रिए यह प्रतिरोध कई अन्य बैक्टीरिया में भी पहुंच जाएगा।

प्रतिरोध अपरिहार्य है

आइए, कोशिका भित्ती को लक्ष्य बनाने वाले एंटीबायोटिक्स का उदाहरण लेकर प्रतिरोध की उत्पत्ति को समझने का प्रयास करते हैं। पेनिसिलीन के खिलाफ प्रतिरोध का पहला स्रोत तो था लक्षित बैक्टीरिया में कतिपय एंज़ाइम्स की उपस्थिति। बीटालैक्टेमेज़ नामक ये एंज़ाइम्स पेनिसिलीन को हानिरहित पदार्थों में बदल देते हैं। बैक्टीरिया मनुष्यों की तुलना में कहीं अधिक तेज़ी से विकसित हो सकते हैं मगर अपने बड़े से दिमाग की बदौलत मनुष्य को नए विचार पैदा करने के लिए विकसित होने की ज़रूरत नहीं पड़ती। लिहाज़ा, वैज्ञानिकों ने पलटवार किया और पेनिसिलीन के ऐसे रूप तैयार किए जो पेनिसिलीन का मूल काम (यानी बैक्टीरिया को कोशिका भित्ति बनाने से रोकने का काम) तो कर सकते थे मगर बीटालैक्टेमेज़ से अप्रभावित रहते थे। बढ़िया! दिक्कत यह है कि बैक्टीरिया विकास करते हैं और तेज़ी से करते हैं। बैक्टीरिया की नई रणनीति यह थी कि उस प्रोटीन में उत्परिवर्तन कर लिया जाए जिस पर पेनिसिलीन प्रहार करता है। इस तरह से बैक्टीरिया पेनिसिलीन और उसके कई परिवर्तित रूपों के खिलाफ प्रतिरोधी हो गए।

बैक्टीरिया ने बीटालैक्टेमेज़ के ऐसे कई परिवर्तित रूप भी खोज लिए जो मनुष्य द्वारा निर्मित विभिन्न किस्म की पेनिसिलीन का विघटन कर सकते थे। संभवतः आज एंटीबायोटिक की मात्र दो ऐसी किस्में हैं जो विस्तृत परास वाले बीटालैक्टेमेज़ बनाने वाले ई. कोली बैक्टीरिया को निशाना बना सकते हैं। ये बैक्टीरिया मूत्र मार्ग में संक्रमण पैदा करते हैं। आज शायद ही कोई रोगकारी बैक्टीरिया हो जो मूल पेनिसिलीन का प्रतिरोधी न होगा (संभवतः एकमात्र अपवाद ट्रेपोनोमा पैलिडम है जो सिफलिस पैदा करता है)।
वीकैम कंपनी में कार्यरत ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने खोजा कि हम क्लेवुलेनिक एसिड नामक पदार्थ

की मदद से बीटालैक्टेमेज़ को ही बाधित कर सकते हैं। यह वही मशहूर ऑगमेंटिन (या क्लैवेम) है जिसका उपयोग आजकल डॉक्टर्स प्रथम चरण के एंटीबायोटिक के रूप में करते हैं - यह एमॉक्सिसिलीन (पेनिसिलीन का परिवर्तित रूप) और क्लेवुलेनिक एसिड का सम्मिश्रण है। अलबत्ता, बैक्टीरिया को तो बस इतना ही करना था कि बीटालैक्टेमेज़ का एक परिवर्तित रूप खोज निकाले जो क्लेवुलेनिक एसिड का प्रतिरोधी हो और उन्होंने ठीक यही किया। कहानी अंतहीन है। यहां तक कि एंटीबायोटिक रूपी अंतिम अस्त्र वेंकोमायसीन के साथ भी यही हुआ। कोशिका भित्ती को प्रभावित करने के लिए उसकी संरचना और क्रिया इतनी जटिल है कि बैक्टीरिया को प्रतिरोध हासिल करने के लिए एक प्रोटीन नहीं बल्कि प्रोटीन का समूचा नया तंत्र विकसित करना पड़ा, मगर बैक्टीरिया ने रास्ता खोज ही लिया।

अब हम जानते हैं कि प्रतिरोध अपरिहार्य है। जैसे कि जूलियन और डोरोथी डेविस ने अपने आलेख 'ओरिजिन्स एंड इवॉल्यूशन ऑफ एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस' (एंटीबायोटिक प्रतिरोध की उत्पत्ति और विकास) में लिखा है, "यदि जैव-रासायनिक तरीके से प्रतिरोध पैदा होना संभव है, तो वह पैदा होकर रहेगा।" वैसे यह हमेशा स्पष्ट नहीं होता कि प्रतिरोध जैव-रासायनिक तरीके से संभव है, कम से कम कुछ दशकों या शायद सदियों में भी। मगर जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस बात के कई कारण है कि क्यों यह जैव-रासायनिक तरीके से सिर्फ संभव ही नहीं है, बल्कि इसे संभव बनाने की तैयारी करोड़ों वर्षों से की गई है।

शुरुआत काफी पहले हुई

अधिकांश एंटीबायोटिक्स प्राकृतिक यौगिकों के परिवर्तित रूप हैं। और इनमें से कई बैक्टीरिया और फफूंदों की किस्मों द्वारा बनाए जाते हैं। आप देखेंगे कि यही समस्या की जड़ है। कोई भी व्यक्ति जब अपने आसपास के अधिकांश जीवन को तबाह करने के लिए ज़हरीली गैस फेंकेगा तो वह इतना ज़रूर सुनिश्चित कर लेगा कि वह खुद उस गैस का शिकार न बने, और नकाब वगैरह पहनकर रखेगा (हां आत्मघाती हो तो बात अलग है)। इसी तरह से यदि बैक्टीरिया को अपने प्रतिस्पर्धियों पर अंकुश लगाने के लिए एंटीबायोटिक बनाना पड़े, तो वह खुद उसके खिलाफ प्रतिरोधी होगा। इसका मतलब है कि प्रकृति में एंटीबायोटिक का जो उत्पादन लाखों-करोड़ों वर्षों से चल रहा है उसके साथ-साथ प्रतिरोध भी रहा होगा। दरअसल, ऊपर वेंकोमायसीन नामक जिस आखरी शस्त्र की बात की गई थी, वह प्रकृति में एक बैक्टीरिया द्वारा बनाया जाता है। और उसमें प्रोटीन का एक पूरा सेट होता है जो यह सुनिश्चित करता है कि वेंकोमायसीन का उत्पादन खुद उसके लिए घातक न हो।

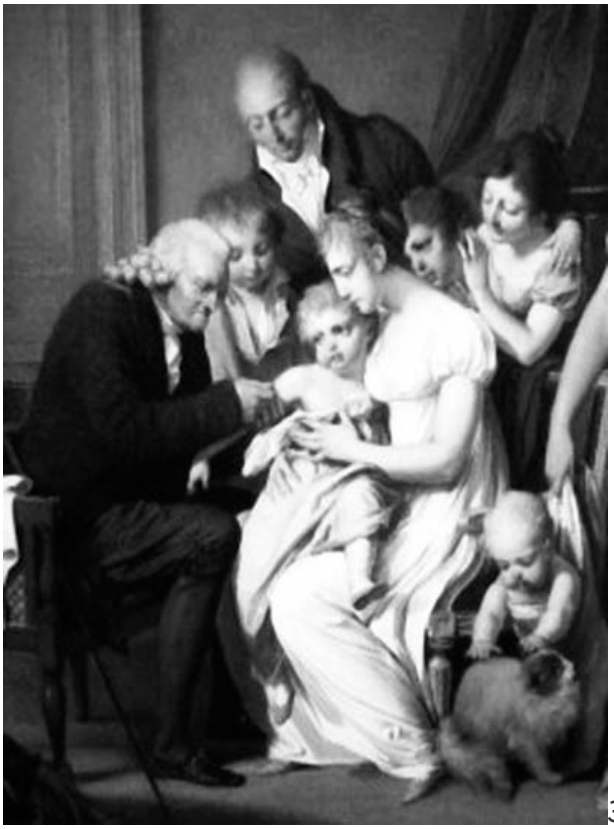 और इन एंटीबायोटिक उत्पादक बैक्टीरिया व फफूंद द्वारा जिन बैक्टीरिया को एंटीबायोटिक का निशाना बनाया गया होगा, उन्होंने भी प्रतिरोध विकसित किया होगा जो मानव क्रियाकलापों से पूरी तरह स्वतंत्र था। सूक्ष्मजीव के कातिलों और उनके लक्ष्यों के बीच शस्त्रों की यह होड़ रोचक है। वास्तव में लगता है कि क्लेवुलेनिक एसिड एक पुरानी रणनीति है जिसका उपयोग सूक्ष्मजीव अपने प्रतिस्पर्धियों में पेलिनिसिलीन प्रतिरोध से निपटने के लिए करते थे। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि हमें प्रकृति में कई एंटीबायोटिक प्रतिरोधी बैक्टीरिया मिलते हैं। और तो और, कई बैक्टीरिया तो एंटीबायोटिक को दावत की तरह हज़म कर जाते हैं।

यह दलील दी गई है कि प्रतिरोध की कुछ कीमत होती है। जिस बैक्टीरिया के पास किसी एंटीबायोटिक के खिलाफ प्रतिरोध होता है और यदि पर्यावरण में से वह एंटीबायोटिक हटा लिया जाए तो प्रतिरोधी बैक्टीरिया किसी भेद्य बैक्टीरिया से प्रतिस्पर्धा में मात खा जाएगा। यह एंटीबायोटिक प्रतिरोध की लागत है। तो क्या एंटीबायोटिक प्रतिरोध को पलटना संभव है? शायद नहीं। क्यों? यह सही है कि पर्यावरण में एंटीबायोटिक्स का उच्च स्तर मानव-जनित है, मगर कम मात्रा में एंटीबायोटिक तो मिट्टी में, पानी में सदा से मौजूद रहे हैं क्योंकि कुछ बैक्टीरिया स्वयं ही इनका निर्माण करते हैं। हालांकि मनुष्य हर तरफ एंटीबायोटिक उड़ेलते रहते हैं, फिर भी पर्यावरण में इन अणुओं की सांद्रता इतनी नहीं होगी कि बैक्टीरिया आबादी के लिए जानलेवा बन जाए। जैसा कि डिएरमैड ह्यूजेस और डैन एंडरसन ने दर्शाया है, एंटीबायोटिक का अत्यंत अल्प स्तर, चाहे बैक्टीरिया की आबादी के सफाए के लिए नाकाफी हो, मगर यह उन रूपों का चयन अवश्य करेगा जो उस एंटीबायोटिक के प्रतिरोधी हों।

जैसी कि ह्यूजेस और एंडरसन ने कुछ वर्ष पहले भविष्यवाणी की थी और हाल ही में मेरी प्रयोगशाला में शोध छात्र आलाप मोगरे ने प्रयोगों से दर्शाया है, एंटीबायोटिक्स की अल्प सांद्रता में पनप रहे बैक्टीरिया जल्दी ही प्रतिरोध के कम लागत वाले तरीके खोज लेते हैं। दूसरे शब्दों में, एंटीबायोटिक्स की अल्प सांद्रता के तहत प्रतिरोध का विकास जल्दी ही उपरोक्त प्रतिरोध की लागत को समीकरण में से हटा देता है। और इसके साथ ही आशा की वह धुंधली-सी किरण भी गुम हो जाती है जो उभर सकती थी। जो लोग चिकित्सक द्वारा बताई गई खुराक का पालन नहीं करते उनके शरीर में एंटीबायोटिक की अल्प सांद्रता बनी रह सकती है। तो, केमिस्ट से एंटीबायोटिक खरीदकर खाने से पहले दो बार सोचें। और डॉक्टर द्वारा निर्धारित एंटीबायोटिक की खुराक और क्रम को तोड़ने से पहले भी दो बार सोचें।
एंटीबायोटिक प्रतिरोध की आखरी समस्या यह है कि एंटीबायोटिक के खिलाफ प्रतिरोध प्रदान करने वाले अधिकांश प्रोटीन्स ऐसे अत्यंत प्राचीन प्रोटीन्स से सम्बंधित हैं जो बैक्टीरिया की कोशिका में कोई उपयोगी भूमिका निभाते थे। उदाहरण के लिए, बीटालैक्टेमेज़ उन एंज़ाइम्स से सम्बंधित हैं जो सामान्य बैक्टीरिया में कोशिका भित्ती को जमाने में मदद करते हैं। अर्थात, किसी बैक्टीरिया को प्रतिरोध का कोई सर्वथा नवीन तरीका नहीं जुगाड़ना पड़ता बल्कि वह उन्हीं चीज़ों में थोड़ा-बहुत फेरबदल करके काम चला सकता है।

एक नई शुरुआत

एंटीबायोटिक प्रतिरोध को एक गंभीर समस्या मानने के बाद, इस क्षेत्र में काफी अनुसंधान हुए हैं। हम ऐसे नए-नए रास्तों और साधनों की तलाश कर रहे हैं जिनके ज़रिए बैक्टीरिया अपना जीवनयापन करते हैं; हम यह समझने की कोशिश कर रहे हैं कि एंटीबायोटिक्स इन पर कैसे असर डालते हैं और बैक्टीरिया इनका सामना कैसे करते हैं। मसलन, जे.जे. कोलिन्स की प्रयोगशाला से यह तर्क आया है कि हालांकि अलग-अलग एंटीबायोटिक्स बैक्टीरिया कोशिका में अलग-अलग प्रत्यक्ष लक्ष्यों पर प्रहार करते हैं मगर आम तौर पर वे बैक्टीरिया की किसी अन्य शरीर-क्रिया पर भी असर डालते हैं और इस क्रिया में फेरबदल करके उस बैक्टीरिया में कुछ हद तक प्रतिरोध विकसित हो सकता है।
अकादमिक प्रयोगशालाएं नए एंटीबायोटिक उपचार की रणनीतियों पर अनुसंधान कर रही हैं। रॉय किशोनी की प्रयोगशाला ने व्यवस्थित रूप से यह दर्शाया है कि विभिन्न एंटीबायोटिक के कुछ सम्मिश्रणों के उपयोग से प्रतिरोध की समस्या को कुछ समय के लिए मुल्तवी किया जा सकता है - बशर्ते कि ये एंटीबायोटिक एक साथ नहीं बल्कि एक के बाद एक या किसी खास क्रम में दिए जाएं। एक विचार यह भी है कि स्वयं बैक्टीरिया को मारने की बजाय उसकी बीमारी पैदा करने की क्षमता को खत्म किया जाए। इस तरीके की एक दिक्कत यह होगी कि यदि वह बीमारी पैदा करना उस बैक्टीरिया के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है तो चयन के द्वारा प्रतिरोध पैदा हो जाएगा। कुछ वायरस बैक्टीरिया का भक्षण करते हैं। बैक्टीरिया का इलाज ऐसे वायरसों से करने का विचार फेलिक्स डी'हेरेल ने 1910 के दशक में दिया था और

आज भी कुछ पूर्वी युरोपीय देशों में यह एक प्रायोगिक उपचार है। शायद वक्त आ गया है कि हम इन तरीकों पर नज़र डालें।

मेरे सहकर्मी वरदराजन सुंदरमूर्ति ने मायकोबैक्टीरियम टुबरकुलोसिस का सामना करने के तरीके पर काम किया है। तरीका यह है कि सीधे-सीधे बैक्टीरिया पर हमला न किया जाए, बल्कि बैक्टीरिया अपने मेज़बान में जिन शरीर क्रियाओं पर असर डालता है उन्हें बदला जाए। यह हमारे पूर्वजों के तरीके जैसा लगता ज़रूर है किंतु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह आणविक स्तर पर काफी परिष्कृत ढंग से काम करता है। इसे एक प्रायोगिक उपचार माना जा सकता है जो इस विचार पर आधारित है कि वायरूलेंस (विषाक्तता) हमारे प्रतिरक्षा तंत्र की अति-प्रतिक्रिया के कारण पैदा होता है और इस अति-प्रतिक्रिया को लक्ष्य बनाना वायरूलेंस से निपटने का एक तरीका हो सकता है।
और कुछ प्रयोगशालाओं, जिनमें जीव वैज्ञानिक तथा मानविकी के शोधकर्ता शामिल हैं, ने एक सूक्ष्मजीव-रोधी नुस्खा तैयार किया है जिसका विवरण नौवीं सदी के अंग्रेज़ी ग्रंथ लीचबुक ऑफ बाल्ड में मिलता है। उन्होंने व्यवस्थित खोजबीन के बाद बताया है कि यह बहु-औषधि प्रतिरोधी एमआरएसए बैक्टीरिया को मार सकता है। यहां मलेरिया-रोधी आर्टिमिसिनीन का ज़िक्र मुनासिब है। जड़ी-बूटियों से उपचार को पुनर्जीवित करने के मामले में हमें यह भी विचार करना होगा कि इनके उत्पादन को सामाजिक रूप से उपयोगी स्तर तक बढ़ाने में दिक्कतें होंगी।
आखिर में यही कहा जा सकता है कि प्रतिरोध की समस्या हमारे साथ रहेगी मगर ज़रूरी नहीं यह प्रलयंकारी हो। मानव मस्तिष्क के सामने चुनौती यह है कि इसके साथ कदम मिलाकर चले और नए-नए गुणों वाले नए-नए एंटीबायोटिक का प्रवाह बनाए रखे। साथ ही ऐसे तरीकों की तलाश की जाए जिनसे प्रतिरोध के विकास की गति कम की जा सके। इन तरीकों में सख्त नियमन और नियंत्रण शामिल होंगे ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि इनका उपयोग संयम और समझदारी से हो। यह खास तौर से हमारे जैसे देश में बहुत ज़रूरी है। यह संभव है बशर्ते कि हम चौकन्ने बने रहें। **(स्रोत फीचर्स)**

जैव विकास को प्रत्यक्ष देखने का रोमांच

अश्विन साई नारायण शेषशायी

.जैव विकास का अध्ययन करने के लिए जीव वैज्ञानिक जिस औज़ार का उपयोग करते हैं उसे फायलोजेनेटिक्स कहते हैं। इसके अंतर्गत जीव वैज्ञानिक कुछ मापन योग्य गुणों के आधार पर वर्तमान प्रजातियों के बीच अंतरसम्बंध खोजने का प्रयास करते हैं।.

सृष्टिवादियों और वैकासिक जीव वैज्ञानिकों के बीच जीवन की उत्पत्ति को लेकर चली बहस को अक्सर इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है जैसे यह जीव विज्ञान और जीव विज्ञान में आम लोगों के विश्वास के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है। मगर वास्तव में यह मुद्दा यूएसए जैसे कुछेक देशों में ही कोई मुद्दा है। इंग्लैण्ड के तो अधिकांश लोग जैव विकास में विश्वास करते हैं। लगभग 1000 लोगों के एक सर्वेक्षण के मुताबिक भारत के 80 प्रतिशत लोग जैव विकास में यकीन करते हैं। इनमें 85 प्रतिशत ऐसे लोग भी हैं जो ईश्वर को मानते हैं।
यह तो स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन व धर्मों में जीवन की उत्पत्ति को लेकर विचार ईसाई धर्म के जेनेसिस से कहीं अधिक जटिल हैं। जैसा कि राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन सम्बंधी अपने ग्रंथ में बताया था, ऋगवेदिक संहिता बहु-ईश्वरवाद से एकेश्वरवाद में और अंतत: अद्वैत में बदल गई। इस परिवर्तन के दौरान इन रचनाओं के लेखक ब्रह्मांड की उत्पत्ति को लेकर अपना आश्चर्य ऐसे सुंदर श्लोकों में व्यक्त करते हैं:
“तो किसे पता है कि यह सब कहां से पैदा हुआ?

ईश्वर तो इस सृष्टि के बाद आए थे, तो फिर किसे पता कि यह कहां से आई?
वह जिससे यह सृष्टि पैदा हुई, उसने इसे बनाया या नहीं, सर्वोच्च आकाश में सर्वोच्च प्रेक्षक, शायद उसे पता है, या शायद उसे भी नहीं पता?”
इसके बाद भारतीय षट्दर्शन में स्पष्टत: धार्मिक से लेकर तर्कवादी सांख्य और खुलेआम नास्तिक और भोगवादी चार्वाक, जिसमें सृष्टा के लिए कोई स्थान नहीं है, तक शामिल हैं। विचार और घरानों की इस विविधता को देखते हुए यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि वर्तमान में भारतीय हिंदुओं के लिए जैव विकास की धारणा किसी विवाद को जन्म नहीं देती।
आधुनिक विज्ञान में जैव विकास
आधुनिक जीव विज्ञान पर आते हैं। जीव वैज्ञानिक जैव विकास का अध्ययन कैसे करते हैं? जीव वैज्ञानिकों द्वारा जैव विकास के अध्ययन के लिए एक औज़ार का उपयोग किया जाता है जिसे फायलोजेनेटिक्स कहते हैं। इसके अंतर्गत वैज्ञानिक कोशिश करते हैं कि कुछ मापन योग्य गुणों के आधार पर वर्तमान प्रजातियों के बीच कड़ियां जोड़ें। एक बार ये अंतरसम्बंध

स्थापित हो जाएं, तो तार्किक दलीलों का उपयोग करके यह पता करने की कोशिश की जाती है कि इन मौजूदा जीवों के पूर्वजों की प्रकृति क्या रही होगी। ये मापन योग्य गुण किसी जीव की शरीर रचना से सम्बंधित भी हो सकते हैं और आणविक संघटन से सम्बंधित भी हो सकते हैं।

आनुवंशिक पदार्थ होने के नाते डीएनए फायलोजेनेटिक्स या आणविक जैव विकास के अध्ययन के लिए पसंदीदा अणु है। 1970 के दशक में कार्ल वीस ने डीएनए अनुक्रमण (डीएनए के अणु में क्षारों का क्रम पता करने) की नवीनतम तकनीकों का उपयोग करके दर्शाया था कि जीवन के तीन प्रमुख समूह (जगत) हैं: बैक्टीरिया, आर्किया (जो कई इंतहाई परिवेशों में मिलते हैं, जैसे गहराई में उपस्थित गर्म पानी के झरने) और यूकेरिया (सत्य-केंद्रकी)। यूकेरिया के अंतर्गत फफूंद, कृमि और मक्खियों, मनुष्य और पौधों समेत वे सारे जीव आते हैं, जो बैक्टीरिया या आर्किया नहीं हैं।
जैव विकास के अध्ययन का बुनियादी संदर्भ बिंदु वह है जिसे आधुनिक वैकासिक संश्लेषण कहते हैं। इसके तहत चार्ल्स डारविन के विचारों और ग्रेगर मेंडल के विचारों के बीच तालमेल बनाया गया है। चार्ल्स डारविन जहां जैव विकास के प्रवर्तक हैं वहीं मेंडल आधुनिक जेनेटिक्स के। आधुनिक संश्लेषण कहता है कि जैव विकास आम तौर पर उत्परिवर्तनों (म्यूटेशन्स) के ज़रिए होता है। ऐसे प्रत्येक उत्परिवर्तन का हल्का-सा असर होता है। और जिस जेनेटिक रूप से परिवर्तित जीव में थोड़ी ज़्यादा जीवनक्षमता (फिटनेस), जिसे संतान पैदा करने की क्षमता के आधार पर परिभाषित किया जाता है, होती है वह अन्य से आगे निकल जाता है और उसकी संख्या बढ़ जाती है। इसमें से दूसरे बिंदु को प्राय: प्राकृतिक चयन या 'सर्वोत्तम की उत्तरजीविता' कहते हैं। डारविन के शब्दों में, "एक सामान्य नियम है जो सारे सजीवों की प्रगति का मार्ग है - संख्यावृद्धि करो, विविधता बनाए रखो और सबसे शक्तिशाली को जीने दो, सबसे दुर्बल को मर जाने दो।"

जैव विकास के बारे में आम तौर पर यह माना जाता है कि वह करोड़ों-अरबों सालों में होता है। उदाहरण के लिए, यूकेरिया के साझा पूर्वज लगभग 2 अरब वर्ष पहले अस्तित्व में रहे होंगे और इन कई युगों ने जीवन के कई रूपों को जन्म दिया है, जो आज हमें दिखाई देते हैं। ज़्यादा हाल के वर्षों में देखें, तो करीब 1.5 करोड़ वर्ष पहले वनमानुष अस्तित्व में आए, और इसके बाद अपने वनमानुष पूर्वजों से आदिम मनुष्यों के विकास में करीब 1.2 से 1.3 करोड़ साल और लगे।
मगर फिलहाल तो हम इस पचड़े में नहीं पड़ेंगे कि वैज्ञानिकों ने आदिकालीन अजैविक रसायनों की खिचड़ी में से जीवन की उत्पत्ति को समझने की किस तरह की कोशिशें की हैं। यहां हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालाओं में जैव विकास की प्रक्रिया को प्रत्यक्ष रूप में देखने के लिए क्या तरीके अपनाते हैं।
जीते-जागते विकास का अवलोकन

वास्तविक समय में प्रयोगशाला में बड़े पशुओं के विकास का अध्ययन करना अव्यावहारिक है क्योंकि ये जीव कुछेक दशकों में एक बार प्रजनन करते हैं और माता-पिता से थोड़े अलग जेनेटिक संघटन वाली विविधतापूर्ण संतानें पैदा होना जैव विकास के लिए अनिवार्य है। तो प्रयोगशालाओं में जैव विकास के अध्ययन का काम कोशिकाओं के साथ किया जाता है। इसके अलावा, इस अध्ययन के लिए कोशिकाओं की ऐसी बड़ी आबादियों का अध्ययन किया जाता है जो जल्दी-जल्दी प्रजनन करती हैं, जैसे ई. कोली सरीखे बैक्टीरिया और खमीर।

चूंकि बैक्टीरिया और खमीर एक-कोशिकीय जीव हैं, इसलिए ऐसे अध्ययनों के बारे में कहा जा सकता है कि इनमें किसी जीव के विकास का अध्ययन किया जा रहा है। वायरस भी जैव विकास के अध्ययन के लिए अच्छे मॉडल हैं। यहां हम प्रयोगशालाओं में बैक्टीरिया का उदाहरण लेकर बताएंगे कि जैव विकास का अवलोकन कैसे किया जाता है और यह भी स्पष्ट करेंगे कि इस ऐतिहासिक विवरण में वायरसों का क्या योगदान रहा है।
प्रयोगशाला में विकास के प्रयोग में किसी पसंदीदा बैक्टीरिया को निर्धारित परिवेश में कई बार पनपाया जाता है। परिवेश को हम पोषक तत्वों, या तापमान व अम्लीयता में परिवर्तन जैसे तनावों या एंटीबायोटिक अथवा अन्य विषैले पदार्थों की सांद्रता के आधार पर परिभाषित करते हैं।
मान लीजिए कि जिस बैक्टीरिया आबादी के साथ हमने शुरुआत की थी वह किसी एंटीबायोटिक के प्रति संवेदी थी (यानी उससे प्रभावित होती थी)। मगर उसके जीनोम में एक अकेला उत्परिवर्तन प्रतिरोध पैदा कर सकता है। यह भी मान लेते हैं कि प्रयोग के बर्तन में 10 लाख बैक्टीरिया हैं और प्रत्येक बैक्टीरिया के जीनोम में 10 लाख इकाइयां (यानी क्षार) हैं जिनमें से हरेक में सिद्धांतत: उत्परिवर्तन हो सकता है और बेतरतीब ढंग से उत्परिवर्तन की संभाविता प्रति दस पीढ़ी में एक है। लिहाज़ा, किसी उत्परिवर्तन के द्वारा किसी एक बैक्टीरिया में प्रतिरोध पैदा होने की संभावना प्रति पीढ़ी दस लाख में एक (0.0000001) है जो काफी कम है।
अलबत्ता, हमने शुरुआत 10 लाख बैक्टीरिया से की है। इसका मतलब है कि उस बर्तन में किसी एक बैक्टीरिया में उत्परिवर्तन की संभावना 10 में 1 है। यह कोई छोटी संभाविता नहीं है। यदि बैक्टीरिया में औसतन हरेक घंटे में प्रजनन करके आबादी दुगनी हो जाती है, तो एक दिन के अंदर प्रतिरोधी बैक्टीरिया के नज़र आने की संभावना काफी अधिक हो जाती है। (इसकी तुलना किसी स्तनधारी से कीजिए जो कुछेक दशकों में एक बार प्रजनन करते हैं।) यदि एक अकेला प्रतिरोधी बैक्टीरिया भी तैयार हो जाता है तो वह जल्दी ही पूरी आबादी पर हावी हो जाएगा। हाल में जीनोम अनुक्रमण की तकनीक में काफी प्रगति हुई है और ऐसे प्रयोगों की लागत भी कम हुई है। इसके परिणामस्वरूप उत्परिवर्तनों की खोज की प्रक्रिया काफी आम हो गई है।

कुछ उदाहरण

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कई प्रयोगशालाओं में (मेरी अपनी प्रयोगशाला में भी) एंटीबायोटिक की कम सांद्रता में बैक्टीरिया को पनपाकर उन उत्परिवर्तनों के मार्ग खोजने के प्रयास हुए हैं जो अलग-अलग एंटीबायोटिक के खिलाफ या एंटीबायोटिक के किसी उपचार-क्रम के खिलाफ प्रतिरोध प्रदान करते हैं। यह सचमुच चंद दिनों की अवधि में बैक्टीरिया के विकास का प्रत्यक्ष अवलोकन है और यह मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रासंगिक भी है।

प्रयोगशाला में किए गए इन अध्ययनों से हमें बैक्टीरिया की बुनियादी शरीर क्रिया (कार्यिकी) के बारे में काफी कुछ समझ में आया है। इनमें कनाडा के विलियम नवारे की प्रयोगशाला का यह ताज़ा अवलोकन शामिल है कि एक अकेला प्रोटीन टायफॉइड-जनक साल्मोनेला में कई अन्य प्रोटीन के उत्पादन का नियमन करता है और यह प्रोटीन बैक्टीरिया द्वारा रोग पैदा करने के लिए अनिवार्य है। इस प्रोटीन के अभाव में साल्मोनेला के लिए उन अस्त्रों का रख-रखाव बहुत महंगा हो जाता है जिनके दम पर यह टाइफॉइड उत्पन्न करता है। इतनी अधिक लागत को सहन न कर पाने की वजह से साल्मोनेला हाथ खड़े कर देता है और शांति के प्रयास करता है।

कई अन्य अध्ययनों में ऐसे प्रयोगों का उपयोग उत्परिवर्तन की दर नापने के लिए किया गया है। विकास के अध्ययन की दृष्टि से उत्परिवर्तन की दर का बहुत महत्व है। इसका महत्व संक्रामक रोगों के प्रसार के अध्ययन में भी है।

हमने अपने काम के दौरान ई. कोली के विकास का अध्ययन करके यह दर्शाया कि इस बैक्टीरिया के गुणसूत्र के दो अर्धांश एक-दूसरे से कैसे 'वार्तालाप' करते हैं। इसके आधार पर इस वार्तालाप के आणविक कारणों को लेकर सवाल उठे हैं। मेरी सहकर्मी दीपा आगाशे की प्रयोगशाला में विकास के अध्ययन का उपयोग यह दर्शाने के लिए किया गया है कि उत्परिवर्तनों का एक समूह है जो कोशिका में बनने वाले प्रोटीन्स की प्रकृति को प्रभावित नहीं करते, मगर इनका कोशिका की कार्यिकी पर ज़बर्दस्त असर हो सकता है।

जैव विकास सम्बंधी सबसे मशहूर प्रयोगशाला अध्ययन यूएस के रिचर्ड लेंस्की की प्रयोगशाला में चल रहा है। वे पिछले तीस वर्षों से ई. कोली में विकास करवा रहे हैं और करीब 50,000 पीढ़ियां पैदा करवा चुके हैं। तुलना के लिए, मनुष्यों में 50,000 पीढ़ी की अवधि शायद 10 लाख सालों की होगी।

लेंस्की के अध्ययनों में एक महत्वपूर्ण खोज यह है कि उत्परिवर्तनों की एक अजीबोगरीब श्रृंखला होती है जो ई. कोली को साइट्रिक अम्ल का उपयोग करने में समर्थ बना देती है। (ई. कोली सामान्यत: साइट्रिक अम्ल का उपयोग नहीं कर पाता। साइट्रिक अम्ल नींबू, संतरे, मौसम्बी का एक प्रमुख घटक होता है और ऊर्जा उत्पादन की कोशिकीय क्रिया का एक महत्वपूर्ण मध्यवर्ती पदार्थ है।) यह मामला सर्वोत्तम की उत्तरजीविता का लगता है - तर्क यह है कि इस उत्परिवर्तन ने ई. कोली को उस ढेर सारे साइट्रिक अम्ल के उपयोग में समर्थ

बनाया है जो शायद पर्यावरण में पोषण के उद्देश्य से नहीं पहुंचा है।

एक बात यह है कि लेंस्की के अध्ययनों के मशहूर होने का एक परिणाम यह हुआ है कि इसने सृष्टिवादियों (खासकर इंटेलिजेंट डिज़ाइन के समर्थकों) का ध्यान आकर्षित किया है जिसमें से कुछ रोचक चर्चाएं उभरी हैं।

आणविक जीव विज्ञान के शुरुआती वर्षों में जैव विकास

बैक्टीरिया-भक्षी वायरसों की खोज को करीब 100 वर्ष हो गए हैं। बैक्टीरिया-भक्षी वायरसों की खोज आणविक जीव विज्ञान में एक युगांतरकारी घटना थी। इसने जैव विकास पर निर्णायक शोध को संभव बनाया क्योंकि ये वायरस काफी तेज़ी से बहुगुणित होते हैं और जेनेटिक विविधता का पहाड़ खड़ा कर देते हैं जिसके आधार पर प्राकृतिक चयन अपना काम कर सकता है।

फेलिक्स डी'हेरेल ने दर्शाया है कि बैक्टीरिया-भक्षी वायरस अपने शिकार को लेकर काफी नखरैल होते हैं। अर्थात प्रत्येक बैक्टीरिया-भक्षी किसी विशिष्ट किस्म के बैक्टीरिया को ही संक्रमित करके मारता है। डी'हेरेल बैक्टीरिया-भक्षी के खोजकर्ताओं में से एक हैं और ऐसे बैक्टीरिया-भक्षी वायरसों की मदद से उपचार के अग्रणी शोधकर्ता हैं। सूक्ष्मजीवों में प्रतिरोध की समस्या के चलते शायद इस तरह के उपचार को एक बार फिर मौका मिलेगा। अलबत्ता, डी'हेरेल ने यह भी दर्शाया है कि यदि बैक्टीरिया-भक्षी वायरसों की एक जमात को ऐसे बैक्टीरिया के संपर्क में रखा जाए जो उसके पसंदीदा बैक्टीरिया से मिलते-जुलते हों, तो ये वायरस जल्दी ही नए शिकार को अपना भोजन बनाने की सामर्थ्य हासिल कर लेते हैं।

आगे चलकर 1940 के दशक में साल्वेडोर लूरिया और मैक्स डेलब्रुक ने बैक्टीरिया-भक्षियों और बैक्टीरिया को लेकर कुछ सुंदर प्रयोग करके जैव विकास के एक महत्वपूर्ण सवाल को संबोधित करने की कोशिश की थी। मान लीजिए कि बैक्टीरिया की एक जमात है जो मूल रूप से एक बैक्टीरिया-भक्षी द्वारा खाए जाने के योग्य है मगर आगे चलकर यह आबादी इस हमले के खिलाफ प्रतिरोधी हो जाती है। सवाल यह है कि क्या इन बैक्टीरिया ने वायरस से संपर्क के बाद ये लाभदायक उत्परिवर्तन उत्पन्न किए हैं या क्या प्राकृतिक चयन ने पहले से मौजूद (संयोगवश पैदा हुई) विविधता में से चुनाव किया है? इसे आम तौर पर अनुकूलन-आधारित विकास की बहस कहा जाता है।

लूरिया और डेलब्रुक ने बहुत ही आसान से सूक्ष्मजीव वैज्ञानिक प्रयोग किए थे जिनमें बैक्टीरिया की कई स्वतंत्र आबादियों को बैक्टीरिया-भक्षियों के संपर्क में रखा गया। शोधकर्ताओं ने यह मापन किया कि बैक्टीरिया के प्रतिरोधी रूप किस गति से पैदा होते हैं। अपने प्रयोगों से प्राप्त परिणामों की तुलना उन्होंने इस प्रक्रिया के दो वैकल्पिक संभाविता आधारित मॉडल्स से की। इसके आधार पर वे दर्शा पाए कि बाद वाली प्रक्रिया (यानी पहले से मौजूद विविधता में से चयन) ज़्यादा संभव है। इस प्रयोग को 'उतार-चढ़ाव परीक्षण' या 'फ्लक्चुएशन टेस्ट' कहते हैं।

यह वैज्ञानिक विमर्श की ताकत का प्रतीक है कि इन आसान से प्रयोगों के परिणामों पर आज भी गणितज्ञ और सैद्धांतिक जीव वैज्ञानिक नए-नए दृष्टिकोणों से चर्चा कर रहे हैं। और आणविक व वैकासिक जीव वैज्ञानिकों की नज़र में अनुकूलन-आधारित विकास का सवाल आज भी बहस का विषय बना हुआ है। **(स्रोत फीचर्स)**

A Human History of Infectious Agents and the Reality of Antimicrobial Resistance

Aswin Sai Narain Seshasayee

With great confidence and supposed vision, we decided that infectious diseases were a done deal, and research funding for these areas were curtailed. Unfortunately, we did not factor in evolution.

A major challenge in medicine and the biomedical sciences today is the problem of antibiotic resistance, the phenomenon by which agents of infectious diseases – bacteria being most relevant to this article – no longer respond to treatment with the 'miracle drugs'. Let's understand this phenomenon by tracing the roles of infectious diseases in human history; our approaches to understanding and treating them over millennia; the recent use and abuse of antibiotics and the resultant spread of antibiotic resistance; the antiquity of antibiotics in natural environments and the inevitability of resistance; and the way forward.

Infectious diseases in human history

Infectious diseases have kept a check on humanity for many thousands of years. The explosive increase in human population densities consequent to the development of agriculture, and later the organisation of societies into city states, would have caused a rapid spread of contagion. One might even go the distance of proposing that the ability to multiply and spread within such highly dense populations by causing disease would have favoured the evolution of virulence in some bacteria. The real picture is probably more complicated than this simple-minded view, but we are probably not entirely off the mark.

There is evidence that a millennium before the year 0, the Egyptian pharaoh Rameses V might have had smallpox, a deadly viral disease which has now been famously eradicated. The Ayurvedic treatise Charaka samhita and the contemporaneous medical work attributed to the Greek Hippocrates describe tuberculosis as *sosa*/*rajayaksma* and *pthisis* respectively around 500 BCE to the first century CE; this is a bacterial disease of much interest today. They also refer to leprosy, another bacterial disease caused by an organism that likely shared a common ancestor with the bacterium that causes tuberculosis. Both these works also refer to intermittent fevers, typical of different forms of malaria, which is neither of bacterial or viral origin but caused by a protozoan.

The Roman Empire, with its unprecedented range and population, was repeatedly challenged by the plague, another bacterial disease which attracted much attention in India after a highly publicised outbreak in Surat in the 1990s. The plague wrecked Europe in the 14th century, leaving traces of devastation from its origin in China through the major centres of civilisation en route to Europe, leading to the moniker "The Black Death". It has been suggested that this plague might have played a role in introducing societal transformations that resulted in the

Renaissance. It is believed in that “ring-a-ring-a roses”, the popular playful nursery rhyme, was in fact motivated by the morbid symptoms of children afflicted with the plague, and we all fall down … dead. In more recent centuries, there have been cataclysmic epidemics and pandemics of bacterial pneumonia and cholera. Today, we talk about the dangers posed by various respiratory viruses and multi-drug resistant bacteria!

Despite being very selective in its cataloguing of historical epidemics, this list should serve to highlight the long-standing coexistence of humans and infectious diseases, and the attendant meeting of challenges posed to one by the other’s biological setup.

Understanding of infectious diseases over millennia

Though mankind has been beset by infectious diseases for long, an understanding of their pathologies is recent. Hippocrates and the ayurvedic physicians of similar vintage were pioneers in largely divorcing the cause of diseases from supernatural forces. However, their theories of disease as manifestations of disturbances in certain fluid balances, which can be influenced by external factors such as the weather and diet, while ahead of their times, are too simple given what we know today. That said, irrespective of the validity of their theories of pathology, these physicians must have practised effective control measures against infectious diseases in light of the evidence that they could successfully perform surgeries. Nevertheless, they did not anticipate the germ theory of disease, which was to flower 2,000 years after their times.

The idea that germs cause disease was promulgated in Europe by an Italian called Girolamo Fracastaro, who proposed in the middle of the 16th century that diseases are caused by contact with certain particles that spread through the air. In the century that followed, the theory of spontaneous generation of certain life forms from nothing was refuted by Francisco Redi; and microscopes were used to observe and describe microorganisms as “animalcules” by Antonie van Leuwenhoek, the father of microbiology.

In 1767, in a book/essay with an impressively long title (“An account of the manner of inoculating for Small Pox in the East Indies with some observations on the practice and mode of treating that disease in those parts”) Holwell describes how certain Brahmins in Bengal “inoculate” local residents with a mixture comprising the pus derived from individuals who had suffered from smallpox the year before. This inoculation, a precursor to the present-day vaccination, was performed before the onset of seasonal smallpox epidemics, and might have been in practice in India from around 1,000 AD. It appears that these practitioners did have a germ theory of disease in mind and argued that contagious diseases were caused by “multitudes of imperceptible animalculae floating in the atmosphere … (which) return at particular seasons in greater or lesser numbers … (and) pass and repass in and out of the bodies of all animals in the act of respiration”.

In the mid-19th century, the works of Ignaz Semmelweis and John Snow identified material sources of puerperal fever and of a cholera outbreak respectively. These findings helped develop simple measures, such as disinfection of hospital workers' hands with chlorine and the sealing of water wells suspected to originate an infection, to contain these diseases. Earlier, Agustino Bassi had identified a 'vegetable parasite' as the source of an infection that was devastating the silkworm industry.

Despite these early studies, formal investigations of the link between "germs" and disease came about in the late 19th century due to Louis Pasteur and Robert Koch. Koch's postulates on rigorously establishing a link between a germ and a disease is still relevant today, and has recently (about 30 years ago) been expanded into the "molecular Koch's postulates" by Stanley Falkow at Stanford University. The book *Microbe Hunters*, written by Paul de Kruif in 1926, is a must-read for anyone interested in human discoveries of infectious diseases.

Containment of infectious diseases in the pre-antibiotic era

Treatment of infectious diseases in the pre-germ theory age appears to have depended on various herbal concoctions. In ancient Ayurveda and Hippocrates' time, the idea that these diseases were caused by disturbances in certain "humours" meant that interventions were developed that were believed to reverse these disturbances.

In the Abbasid Caliphate's (8th to 13th century) capital city of Baghdad, which was in an intellectual ferment during this period, quarantine procedures were adopted for containing infectious diseases. Several hundred drug formulations were described by Ibn Sina in Baghdad, the Latin translation of whose works were used as medical textbooks in Europe for close to 500 years. The ninth century Anglo-Saxon text *Leechbook of Bald* describes recipes for treating certain infectious diseases; we will return to this later.

Being an anti-malarial means artemisinin, whose discovery led to the 2015 Nobel Prize in medicine, is not quite an antibiotic in the sense the term is used today to refer to anti-bacterials. Nevertheless, the herb from which artemisinin is isolated has been in use in traditional Chinese medicine since probably about 300-200 BCE.

Many of these therapies, as well as those from other civilisations and cultures, despite being ignorant of the causes of infectious diseases, built on empirical observations, and thus might have been effective.

It is curious that skeletal remains from the Nubians of Sudan from ~400CE and of Roman Egypt show traces of the modern day antibiotic tetracycline; whether this was part of any herbal medication or was an incidental component of these people's diet is anybody's guess.

At the end of the day, many antibiotics we have today are ancient, natural products, which as we will see later in the article contributes to making antibiotic resistance inevitable.

Vaccination against infectious diseases has a long history, and its afore-mentioned application in India 1,000 years ago seems to have had a relationship with the acknowledgment of a germ theory of disease. Vaccinations were also performed in China in the 14th century and in the Arab world in the 12th century. The practice was formalised in Europe by Edward Jenner towards the end of the 18th century. Even today however, vaccinations against bacterial infections have been rarely successful – a cursory glance at the immunisation schedules of our children will immediately point to a preponderance of vaccines against viral rather than bacterial diseases. To clarify, vaccines, unlike the antibiotics that were to revolutionise medicine later, do not treat an infection; instead they prime the immune system to provide protection against an infection.

The antibiotic era

The greatest success story of medicine in treating infectious diseases is the antibiotic revolution, initiated by Paul Ehlrich's introduction of the "magic bullet" Salvarsan, a toxic arsenic-based agent, to counter syphilis in 1910. Not too long after, the first sulfonamide antibiotics were introduced by Bayer. The turning point of course was the discovery – by Alexander Fleming – and the mass production – by Howard Florey – of penicillin, which played a major role in curing infections during and after the Second World war. Penicillin is a natural compound produced by a type of fungus, referred to as a mold. It is notable that among ancient people, eating certain molds was a practice for treating some infections.

Penicillin is an antibiotic that acts by not allowing the bacterial cell to produce its own cell surface, called the cell wall. Bacteria are single cells and nearly everything they contain, and all that makes them a form of life are contained within a fragile detergent-like membrane, which in turn is protected by a hard cell wall, made of tightly interlinked chains of sugars and molecules called amino acids. If this protective cell wall can no longer be made, the fragile membrane gets exposed, and its rapid collapse will essentially annihilate the bacterium. Our cells do not have cell walls, and for us having just the membrane is more than sufficient. This means that penicillin cannot do much wrong to our own cells, making it a safe drug that specifically kills bacteria and leaving us unaffected. Of course, penicillin overdose causes liver toxicity and so on, but that is a different story altogether.

Bacteria have many other Achilles' heels, besides the cell wall: these are biochemical functions essential for their survival, but evolved in such a way that the molecules responsible for these functions are very different from their human counterparts. This means that that drugs can be designed to specifically target these bacterial properties, leaving human biochemicals alone. For example, several antibiotic types such as the tetracyclines, aminoglycosides and macrolides inhibit the protein synthesising machinery of bacteria, but not of human cells.

Many antibiotics were made that controlled infections across the world and increased life expectancies significantly. All looked hunky-dory. Laden with irrepressible excitement, we flooded ourselves and our environment with antibiotics: taking antibiotics for every little sniffle, for the generic amoxicillin antibiotic in its yellow wrapping, and generously doled out by our pharmacies without a doctor's prescription, cost next to nothing; using antibiotics in animal husbandry and poultry as growth-promoting agents and for prevention of infections; industrial dumping of large volumes of these molecules into rivers and waterways; in laboratories during for example genetic engineering experiments. In particular, the use of antibiotics in poultry and animal husbandry represents a major shift in antibiotic usage from treating to preventing bacterial infections, which has resulted in massive overuse of these drugs.

With great confidence and supposed vision, we decided that infectious diseases were a done deal, and research funding for these areas were curtailed in the US. After all what was the point of studying things that were on their way out of this world. Unfortunately, we did not factor in *evolution.*

Antibiotic Resistance is Inevitable But Not Insurmountable

Aswin Sai Narain Seshasayee

Resistance is here to stay but it needn't be apocalyptic. The challenge for the human mind is to keep pace with it and keep a continuing stream of new antibiotics with novel properties flowing.

Even before penicillin was commercially introduced, resistance to it was described! All organisms evolve at some rate, and bacteria with their large population sizes and fast reproduction times can generate, by random chance, a humongous number of genetic variants, some of which might carry the property of resistance to antibiotics. A bacterium does not necessarily have to mutate its own chromosome to become resistant, even though multi-drug resistant *Mycobacterum tuberculosis* evolved in this manner; bacteria can share determinants of antibiotic resistance amongst each other by a phenomenon called horizontal gene transfer.

Resistance is generally conferred by proteins that modify the antibiotic and convert them into non-toxic forms; proteins that throw the antibiotic out of the cell; alterations that block access of the antibiotic to its target locations inside the cell; modifications to the target of the antibiotic such that the target is no longer affected by the antibiotic.

In an environment that is saturated with antibiotics, those variants which can survive the drug onslaught outcompete their relatives and take over the population. Eventually, we end up finding that a large number of bacteria that we have to deal with are impervious to the weapons we use to tackle them. A bit like the fast-multiplying *rakshasa* on whom a helpless minor *deva* throws ineffective arrows.

It is easy to see how antibiotic overuse can result in a more or less permanent selection of antibiotic resistant bacteria: the bacteria rarely see an antibiotic-free environment and therefore the less likely that there will be some that are sensitive to the antibiotic. Resistance to drugs is not limited to bacteria. Variants of HIV are resistant to the protease inhibitors used in therapy; we know of chloroquine-resistant malarial parasites; and cancer cells do become recalcitrant to chemotherapy.

The problem is compounded by the fact that most antibiotics are "broad-spectrum", in that they are not specific to a small variety of bacteria but in fact target vast swathes of their range. There are good reasons for having broad spectrum antibiotics: it is not always practical for a doctor to specifically diagnose the bacterial variety causing an infection and in these situations a generalist antibiotic works. There are commercial reasons for the goodness of broad-spectrum drugs as well. On the flip side, having broad-spectrum drugs means that evolution of resistance need not necessarily arise in the specific bacterium that needs to be targeted but could evolve in any of the zillion other harmless bacterial species that the antibiotic affects, and then eventually find its way to a bacterium of our concern by horizontal gene transfer.

Resistance is ~~futile~~ inevitable

Let us take the case of cell wall-targeting antibiotics and track the emergence of resistance. The first source of resistance to penicillin was the presence of certain enzymes in target bacteria. These enzymes, called beta-lactamases, break down penicillin into harmless compounds. Bacteria may evolve a lot faster than humans but humans with their big brains do not have to evolve to come up with new ideas. So the scientists hit back and came up with penicillin variants that can do the originally intended function of penicillin, but be impervious to the action of the beta-lactamases. Excellent! The problem is that bacteria evolve and do it rapidly. The new strategy that the bacteria came up with was to find a mutation in the protein that penicillin targets, thus making the protein insensitive to penicillin and its variants. Take that and that – a one-two punch.

The bacteria even found other variants of beta-lactamases that could breakdown the wide-range of penicillin variants that humans could come up with. There are probably only two types of antibiotics today that can target what are called extended spectrum beta-lactamase producing *E. coli*, which cause infections in the urinary tract. There is hardly any pathogenic bacterium (with the possible exception of *Treponema pallidum*, the thing that causes syphilis) that is not resistant to the original penicillin today.

British scientists working with the company Beecham discovered that we could inhibit beta-lactamases themselves using something called clavulanic acid – the famous Augmentin (or Clavam) that doctors often give as a first-line antibiotic today is a combination of amoxicillin (a penicillin variant) and clavulanic acid. But well, all that bacteria have to do was find beta-lactamase variants that are resistant to clavulanic acid, and they did just that. And the story is endless. Even with last-resort antibiotics like vancomycin, whose structure and activity in affecting cell wall assembly are so complex that bacteria had to evolve entirely new systems of proteins (not one protein) to develop resistance, bacteria have found ways out.

We now realise that resistance is inevitable. As Julian and Dorothy Davies say in their article ‘Origins and Evolution of Antibiotic Resistance’, “if resistance is biochemically possible, it will occur”. Of course, it is not always clear that resistance is biochemically possible, at least within a few decades or even centuries. But as we will see below, there are good reasons why it is not just biochemically possible, but has been primed to be possible for millions of years!

The beginning was a few million of years ago

Most antibiotics are variants of natural compounds, and many produced by varieties of bacteria and fungi. Now you see, there lies a problem. Someone who throws out a noxious fume to destroy much of life around him, will try to make sure he does not succumb to the fume and will wear a mask, unless of course he is being suicidal. Similarly, if a bacterium had to produce antibiotics to keep its competition in check, it itself had to be resistant to the antibiotics. That means antibiotic production in nature, which has been happening for millions of years, should be associated with resistance. In fact, the afore-mentioned last resort

vancomycin is produced in nature by a bacterium, which carries the entire set of proteins it needs to ensure that vancomycin production is not suicidal.

And bacteria targeted for killing by these antibiotic producing bacteria and fungi themselves would have evolved resistance, completely independent of human excesses. The arms race between microbial killers and their targets is fascinating. In fact, clavulanic acid seems to be an old strategy used by a microorganism to counter resistance among its competitors to the penicillin-like antibiotics it produces. It is not surprising that we now find antibiotic resistance in random bacteria isolated from natural environments; we have even found bacteria that eat antibiotics for breakfast, lunch and dinner, like an Indian movie hero would threaten to do to the villain and his minions.

It's been argued that resistance involves a tradeoff – a bacterium that is resistant to an antibiotic might lose out to a sensitive competitor if the antibiotic is removed from the environment, resulting in a *cost* of antibiotic resistance. Thus, would it be possible to "reverse resistance"? Probably not. Why? Even though high levels of antibiotics in the environment are definitely of anthropogenic origins, low levels of antibiotics should have always been there in the soils, in the waters, thanks to their production by bacteria themselves. Even with humans dumping antibiotics everywhere, the concentration of these molecules in the environment is probably less than what would be needed to be lethal to a bacterial population. As has been shown by Diarmaid Hughes and Dan Andersson, very low levels of antibiotics, even if insufficient to wipe out a population of bacteria, can still select for variants that are resistant to the antibiotic.

As predicted by Hughes and Andersson some years ago, and more recently shown experimentally by Aalap Mogre, a PhD student in my laboratory, bacteria growing in low concentrations of antibiotics can quickly find low-cost mechanisms of resistance. In other words, evolving resistance under low concentrations of antibiotic rapidly remove the above-mentioned tradeoff from the equation, cruelly shutting out the dim ray of hope that might have otherwise emerged. Low levels of antibiotics are likely within the body of the human who fails to adhere to the antibiotic dose regimen prescribed by her physician; so do think twice about buying an antibiotic from a pharmacy without a prescription, and do think twice before you decide to deviate from an antibiotic regime prescribed by your doctor.

A final problem with antibiotic resistance is that most proteins that confer resistance to an antibiotic are very closely related to ancient proteins that perform core functions in the bacterial cell. For example, beta-lactamases are related to the enzymes that help assemble the cell wall in normal bacteria. Thus, a bacterium does not necessarily have to create an entirely "new" resistance determinant; it can find something that it already has, make a few changes to it and get the job done. End of story!

A new beginning

With antibiotic resistance being recognised as a serious problem, there has been significant research activity in this field. We are trying to discover novel ways and means by which bacteria go about doing their daily routine; how antibiotics affect these processes; how the bacteria counter antibiotics. For example, the laboratory of J.J. Collins has argued that many antibiotics, despite having widely different direct targets in the bacterial cell, commonly affect certain other physiologies of the bacterium, and a level of resistance could evolve in the bacterium by altering these physiologies.

Novel antibiotic treatment strategies are being developed by academic laboratories. The laboratory of Roy Kishony has systematically shown that certain combination regimens of different antibiotics – not all given together, but in some alternating or cycling fashion – could delay resistance. Drugs that target the ability of the bacterium to cause disease, but not quite kill the bug, is an idea that has been floated and being tested. The problem with this approach of course will be if the disease process itself is necessary for survival; then selection would result in resistance. Treating bacteria with viruses that feast on them can be traced back to Félix d'Herelle in the 1910s, and remains an experimental therapy in certain Eastern European countries. May be the time is ripe to open our eyes to these approaches.

My colleague Varadharajan Sundaramurthy has worked on mechanisms of countering *Mycobacterium tuberculosis* not by directly hitting the bacterium but by resetting host physiologies that are upset by the bacterium. This may sound at one level like the ideas of our ancients but we must note that this operates at a significantly higher level of sophistication at the molecular level. This can be considered as a class of experimental therapies that can be based on the idea that virulence evolved as a result of immune system over-response, and targeting the latter would be a strategy to counter the former.

Finally, a group of laboratories, including biologists and researchers in the humanities, have reconstructed an anti-microbial recipe described in the Anglo-Saxon *Leechbook of Bald*, and after a systematic investigation showed that it could kill multi-drug-resistant MRSA bacteria. While on this subject, it is also prudent to remember the antimalarial artemisinin. With regard to reviving herbal remedies, one needs to consider the logistical problems of scaling up production to levels that are socially relevant.

At the end of the day, resistance is here to stay. But it need not be apocalyptic. The challenge for the human mind is to keep pace with it and keep a continuing stream of new antibiotics with novel properties flowing, and also finding ways by which resistance can be slowed down, including tight regulatory controls for ensuring their prudent use especially in countries like our own. It is doable, as long as we do not let our guard down.

The author thanks Dr. Savitha Kamalesh at the St. John's hospital, Bangalore, and Dr. Varadharajan Sundaramurthy at the National Centre for Biological Sciences, Bangalore, for their critical comments on this article.

The Beauty and Intrigue of Seeing Evolution in Action

Aswin Sai Narain Seshasayee

A tool used by biologists to study evolution is called phylogenetics, in which the scientist attempts to make connections among extant species based on a set of measurable properties.

The debate over the origin of life between the creationist school and evolutionary biology is often portrayed as an ultimate challenge to biology and to the faith of the common man in the life sciences. In reality however, this appears to be an issue in a few countries, such as the USA. In England, a majority of people believe in evolution. And in India, according to a survey of about a 1,000 individuals, nearly 80% believed in evolution, including 85% of those who believed in God.

The idea of the origin of life in Indian philosophy and religion is clearly more complicated than the Christian genesis. As argued by Radhakrishnan in his treatise on Indian philosophy, the Rig Vedic canon transitioned from polytheism to monotheism and finally monism. Over the course of this transition, the authors of these works express their puzzlement over the origins of the universe in the following, beautiful verses (courtesy: Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. 1, Oxford University Press):

“Who then knows, who has described it here, from whence was born this creation?

The Gods came later than this creation, who then knows whence it arose?

He from whom this creation arose, whether he made it or did not make it, the highest seer in the highest heaven, he forsooth knows, or does even he not know?”

The six systems of the later Indian philosophy encompass the overtly religious to the rationalist *Samkhya* and unabashedly atheistic and hedonist *Charvaka*, in which there is little space for a Creator. Given this panoply of thoughts and schools, it is probably not entirely surprising that evolution rarely stokes the fires of dispute among Hindu Indians today.

Evolution as phylogenetics in modern science

Over to modern science, how is evolution studied? A tool used by biologists to study evolution is called phylogenetics, in which the scientist attempts to make connections among

extant species based on a set of measurable properties. Once these relationships are established, logical arguments are used to infer the nature of the ancestor(s) of these extant organisms. These measurable properties might be as simple as the morphology of the organism or, as is more popular today, molecular composition.

DNA, being the genetic material, turns out to be the molecule of choice for phylogenetics or molecular evolution. In the 1970s, Carl Woese exploited recent developments in DNA sequencing to show that there are three major kingdoms of life. These are bacteria, archaea (many of which are found in extreme habitats such as deep thermal vents) and eukarya, which includes everything else from fungi, worms and flies to mice, humans and plants.

A fundamental reference point for the study of evolution is what is called the modern evolutionary synthesis, which reconciled the ideas of Charles Darwin and those of Gregor Mendel, the fathers of evolution and of modern genetics respectively. The modern synthesis states that evolution typically happens via mutations, each of which is of a small effect, and that a genetic variant with greater fitness, as defined by its ability to produce progeny, will dominate the laggards and become more numerous. The latter point is often referred to as natural selection or 'survival of the fittest'. In the words of Darwin (from his 'Origin of Species'), "One general law, leading to the advancement of all organic beings, namely, multiply, vary, let the strongest live and the weakest die."

Evolution is typically seen as something that happens over millions or billions of years. For example, the last common ancestor of the eukarya must have existed two billion years ago, and over these many epochs spawned the large variety of life forms that we see today. In more recent times, the great apes emerged some 15 million years ago, and it took another 12-13 million years for primitive humans to evolve from their ape ancestors.

But for now, let's not investigate the ways in which scientists have attempted to understand the organic origin of life from a confusion of primordial chemicals, but how they see evolution playing out right in front of their eyes in their laboratories.

Observing evolution in real time

Studying the evolution of large animals in real-time in a laboratory is impractical, since these organisms reproduce once every few decades, and the production of progeny with a genetic makeup subtly different from their parents is critical for evolution. Instead, laboratory studies of evolution deal with cells, and for convenience large populations of cells that reproduce rapidly such as bacteria like *E. coli* and baker's yeast.

Since bacteria and yeasts are single-celled organisms, these studies can be treated as investigating the evolution of an organism. Viruses, whose deeds have been described earlier in this series, are also excellent models for studying evolution. Here we will use bacteria to illustrate examples of evolution being observed in real-time in the laboratory, and conclude by saying how viruses contributed to this discourse in a historical experiment.

In a laboratory evolution experiment, a bacterium of choice is subjected to multiple rounds of growth in an environment of choice, which may be defined by certain nutrients, or stresses such as changes in temperature or acidity, or the concentration of toxic agents including antibiotics.

Let us assume that the bacterial population we start with is sensitive to an antibiotic, but a single mutation in its genome could result in resistance. Let us further assume that we have a million bacteria in the growth pot, that the genome of each bacteria has a million units or bases each of which can be mutated in principle, and that the probability of a mutation occurring at random is one per ten generations. Thus, the chance of a mutation conferring a single bacterium resistance to the antibiotic arising is 0.0000001 (one in ten million) per generation, which is quite small.

However, we start off with a million bacteria, which means that the probability of one bacterium in the pot finding the mutation is one in ten, which is not quite small. If the bacterium doubles in population size by reproducing every hour, then the chance of finding a resistant bacterium within a day becomes fairly high. Compare this to large mammals, who reproduce only once every few decades. Even a single resistant bacterium, once it emerges, could quickly take over the population. With recent advances in genome sequencing technologies, and the attendant cost reduction in performing such experiments, the process of discovering mutations has become routine.

Laboratory evolution of bacteria: examples

It is not at all surprising that several laboratories (including mine) have used this strategy of growing bacteria in small concentrations of antibiotics to discover the mutational trajectories they take to acquire resistance to different antibiotics and to different regimes of antibiotic treatments. This is literally observing bacterial evolution – and one of immediate relevance to human health – in a matter of days.

These laboratory evolution studies have also given us new insight into fundamental bacterial physiology. This includes the recent observation by William Navarre's laboratory in Canada that a single protein, which regulates the production of many proteins in *Salmonella* – the agent of typhoid – is critical for the bacterium being able to cause disease. In the absence of this protein, *Salmonella* finds it rather expensive to maintain the weapons it uses to cause disease, and unable to bear the burden, throws down its arms and calls for a truce! Many

other studies have used such experiments to measure mutation rates, which is of fundamental importance to studying evolution, including infectious disease epidemiology.

Our work has observed *E. coli* evolution in real-time to show how two opposing halves of its chromosome “talk” to each other, resulting in questions on the molecular causes of this conversation. The laboratory of my colleague Deepa Agashe has used laboratory evolution to show how a class of mutations, which do not affect the nature of proteins produced by a cell, can in fact have profound effects on cell physiology.

The most famous laboratory evolution experiment is the ongoing work of Richard Lenski, in the US, who has been evolving *E. coli* in his laboratory for 30 years now, covering well over 50,000 generations of this bacterium. To evolve humans over 50,000 generations would probably require a million years.

One often quoted finding from Lenski’s many studies is the discovery of a very curious series of mutations, which enabled *E. coli*, normally unable to utilise citric acid (a major component of citrus fruits as well as a crucial intermediate in cellular metabolism for energy production) to suddenly do so. This appears to be a case of the survival of the fittest, with some subtle arguments of course, for this mutation-enabled *E. coli* to make good use of the loads of citric acid that had been added to the environment for purposes not directly related to nutrition.

Of course, the popular reach of Lenski’s studies have attracted the attention of the propagandists of the theory of intelligent design, which has resulted in some entertaining exchanges.

Evolution in the early years of molecular biology

It has been 100 years since bacteriophages – viruses that kill bacteria – were first discovered. This was an epoch-defining moment in the history of molecular biology. It also enabled definitive research on evolution, for these viruses multiply rather fast and generate mountains of genetic diversity on which principles of natural selection can act.

Felix d’Herelle, one of the discoverers of the bacteriophage and the pioneer of phage therapy that might soon see a second coming in light of antimicrobial resistance, showed that bacteriophages are highly picky in choosing their prey – i.e. each bacteriophage can infect and kill bacteria of a specific kind. However, he showed that a bacteriophage population when exposed to a bacterium that is closely related to its favourite prey can rapidly evolve the ability to make a meal of this new potential victim.

Later, in the 1940s, Salvador Luria and Max Delbrück performed a classic experiment using bacteriophages and bacteria to address an important question in evolution. Let us assume that a bacterial population, originally susceptible to predation by a bacteriophage, evolves to become resistance to attack. Did these bacteria deterministically generate advantageous mutations after being exposed to the bacteriophage, or did natural selection act on pre-existing variations, generated by random chance, to enrich for a mutant(s) that could resist predation by the bacteriophage? This is often referred to the adaptive evolution debate.

Using simple microbiology experiments in which several independent populations of bacteria were exposed to bacteriophage, Luria and Delbrück counted the rate at which resistant variants were produced. By comparing their experimental results to probabilistic models for describing the two alternative scenarios, these researchers showed that the latter is more likely. This experiment is called the “fluctuation test”.

It is a reflection of the strength of scientific discourse, that the results of these simple experiments are still being analysed from new angles by mathematicians and theoretical biologists. And for the molecular and evolutionary biologists, the question of adaptive evolution is not yet settled.

Aswin Sai Narain Seshasayee runs a laboratory researching bacterial biology at the National Centre for Biological Sciences, Bengaluru. Beyond science, his interests are in classical art music and history.